3. अलंकार-सिद्धान्त

अलंकार की अवधारणा

'अलंकार' शब्द अलम् पूर्वक कृ धातु से निष्पन्न हुआ है। इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती हैः प्रथम, 'अलंकारोतीति अलंकार' अर्थात् जो आभूषित करता है, वह अलंकार है। द्वितीय, 'अलंक्रियते नेनेत्यलंकार' अर्थात् जिसके द्वारा कोई पदार्थ आभूषित हो, उसे अलंकार कहते हैं। अर्थ की द ष्टि से दोनों व्युत्पत्तियों में कोई अन्तर नहीं है। अलंकार का अर्थ है - आभूषण, जो किसी को आभूषित करें। जिस प्रकार हार, कुण्डल आदि आभूषण किसी रमणी की शोभा की अभिव द्धि करते हैं, उसी प्रकार कविता-कामिनी की सौन्दर्य-व द्धि करनेवाले को उपमा-अनुप्रास आदि अलंकार कहते हैं। ये अलंकार काव्य-सौन्दर्य को पूर्णता या पर्याप्तता प्रदान करते हैं। इस प्रकार ये वाणी के अलंकार हैं। आचार्य दण्डी ने काव्य के सभी शोभादायक धर्मों को अलंकार मानते हुए कहा है-

'काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारन् प्रचक्षते।'

अर्थात् काव्य-सौन्दर्य के कारणभूत धर्मों को अलंकार कहते हैं। भाव यह है कि वे धर्म या तत्त्व जो काव्य में सौन्दर्य-व द्धि करते हैं उसे यह पूर्णता प्रदान करते हैं, अलंकार कहे जाते हैं। इनसे भावों में रमणीयता एवं प्रेषणीयता तथा अभिव्यक्ति में स्पष्टता तथा सौन्दर्य सम्पन्नता उत्पन्न होती है। अतः काव्य में इनकी उपयोगिता सर्वस्वीकार्य है।

अलंकारों की उपयोगिता को एक उदाहरण से भली-भाँति समझा जा सकता है। कविवर जयशंकर प्रसाद ने श्रद्धा के मुखण्डल के चारों ओर घिरे केशपाश का चित्र इस प्रकार अंकित किया है-

घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास।
नील घन शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।।

प्रसाद जी के उक्त छन्द के प्रथम दो चरणों में ही अपने प्रतिपाद्य को व्यक्त कर दिया है कि श्रद्धा के मुख के चारों ओर उसके कुंचित केशपाश कन्धे का सहारा लेकर घिरे हुए थे। यदि मात्र इतने को ही काव्य मान लिया जाए तो समझिए कि भोजन से तात्पर्य मात्र रोटियों से ही रहा। केवल रोटियाँ तो ग्राह्य नहीं होती, सब्जी, दही, अचार, चटनी आदि ग्राह्य एवं रोचक बनाते हैं। इसी प्रकार केवल वर्ण्य, कामिनी के कमनीय, किन्तु नग्न कलेवर के समान, ग्राह्य नहीं होता। अलंकार-विधान उसे ग्राह्य बनाता है, अभिव्यक्ति को पूर्णता प्रदान करता है। पूर्णता प्रदान के लिए ही, प्रसाद जी अन्तिम दो चरणों में कहते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है, मानों बादलों के सुकुमार बच्चे चन्द्रमा के पास अम त भरने के लिए आए हों। चन्द्रमा को सुधावर कहते हैं, उसमें सुधा का वास माना जाता है। वह मुख का उपमान है। मुख की अम तयता की कितनी सहज तथा सरल व्यंजना है। किशोरी नायिका का मुख, उसमें अम त का वास क्यों न हो? दार्शनिकों की बात छोड़िए और सहृदय

सामाजिक की द ष्टि से विचार कीजिए। मुख की पूर्ण व्यंजनाएँ उपमान में सन्निहित है। अब लीजिए केशपाश को, उन्हें सुकुमार नीलघन शावक कहना कितना उपयुक्त, मार्मिक तथा हृदयाह्लादक है। केशपाश को शावक कहकर उसकी सजीवता, मनोरमता, सुकुमारता, स्निग्धता आदि की अभिव्यक्ति सहज ही कर दी है। यह सम्पूर्ण व्यंजनाएँ प्रसाद जी ने अलंकार-विधान के माध्यम से की है। अतः स्पष्ट है कि अलंकार भावों को रमणीयता एवं प्रेषणीयता तथा अभिव्यक्ति की स्पष्टता एवं सौन्दर्य सम्पन्नता प्रदान करते हैं। काव्य उन्हीं से पूर्णता को प्राप्त होता है।

अलंकार सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ

यों तो वैदिक संहिताओं में भी अनेक स्थलों पर उपमा, रूपक, विरोधाभास विभावना आदि अलंकारों के रम्य प्रयोग मिलते हैं। लेकिन सिद्धान्त निरूपण की द ष्टि से प्रथम ग्रन्थ यास्क का 'निरुक्त' ही कहा जा सकता है। वेदों में अलंकारों का पुष्कल प्रयोग देखकर ही यास्क ने उनके सम्यक् विश्लेषण का प्रयास किया है। उन्होंने उपमा की परिभाषा दी है - 'यद् अतत् तत्सद शम् इति गार्म्यः अर्थात् गार्म्य का कथन है कि जब एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न रहे, किन्तु दोनों में थोड़ा-सा साम्य रहे तो उपमा होती है। यास्क के उपरान्त पाणिनि ने अपने व्याकरण में उपमा के साथ ही चारों अंगों - उपमेय, उपमान, साधारण धर्म तथा वाचक का भी निरूपण किया है। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' के सोलहवें अध्याय के 43 से 87 तक 45 श्लोकों में उपमा, रूपक, दीपक और यमक का विवेचन किया है। उपमा के पाँच तथा यमक के दस भेदों का विस्त त विवेचन किया गया है तथा अन्य दो अलंकारों का संक्षिप्त। इस प्रकार भामह से पूर्ण अलंकारों का सैद्धान्तिक विवेचन प्रारम्भ हो गया था।

भामह - भामह अलंकार सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य हैं। यद्यपि उन्होंने कई पूर्ववर्ती आचार्यो का उल्लेख किया है, किन्तु उनकी कृतियाँ आज तक उपलब्ध नहीं हो सकीं। भरत के पश्चात् भामह का 'काव्यालंकार' ही प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है। भामह ने 'काव्यालंकार' में अलंकार, वर्णविन्यास, अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति, गुण आदि तत्त्वों का विवेचन किया है। इन सभी तत्त्वों में अलंकार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उनका मत है - 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्' अर्थात् जिस प्रकार नारी का मुख सुन्दर होने पर आभूषणों के अभाव में शोभित नहीं होता, उसी प्रकार कविता अलंकारों के अभाव में सुशोभित नहीं होती। इस प्रकार वे काव्य में नित्य धर्म हैं, उनके अभाव में काव्य शोभित नहीं होता।

भामह ने अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति को स्वीकार किया है। उनके विवेचन में, वक्रोक्ति अलंकार विशेष नहीं, बल्कि सम्पूर्ण अलंकारों की प्राणभूत अतिशय उक्तिरूप है। भामह के अनुसार वक्रोक्ति ऐसी शब्दोक्ति है, जो वक्र अर्थ की विधायक हो। अर्थ को सम्पन्न बनानेवाली सभी विधा ही वक्रोक्ति है। अतः उसके अभाव में कोई अलंकार हो ही नहीं सकता। परम्परानुमोदित अलंकारों में हेतु, सूक्ष्म, वेश और स्वाभावोक्ति का उन्होंने इसीलिए खण्डन किया है, क्योंकि उनके मूल में वक्रोक्ति का अभाव होता है।

भामह ने अड़तीस अलंकारों का विवेचन किया है। इनमें कितने परम्परा प्राप्त हैं और कितने उनके द्वारा अन्वेषित - यह कहना कठिन है। केवल इतना कहा जा सकता है कि सभी भामह द्वारा अन्वेषित नहीं है। उनके समय तक अलंकारों का वर्गीकरण नहीं किया गया था। स्वयं उन्होंने अलंकारों का क्रम किसी तर्कसंगत आधार पर तय नहीं किया है। लाटानुप्रास, ग्राम्यानुप्रास, दीपक आदि कई अलंकारों के लक्षण न देकर, केवल उदाहरण दे दिए हैं।

भामह के समय में गुण और अलंकारों का विवाद तो नहीं था, किन्तु यह विवाद अवश्य था कि शब्दालंकार अधिक रमणीय है या अर्थालंकार। उन्होंने इस प्रचलित धारणा का खण्डन किया कि

अर्थालंकारों की अपेक्षा शब्दालंकार अधिक रमणीय होते हैं। उनका मत है कि हमें तो शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों से सम्पन्न काव्य ही अधिक आकर्षक लगता है।

दण्डी - भामह के उपरान्त दूसरे अलंकारवादी आचार्य दण्डी हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' के अधिकांश में अलंकारों का ही विवेचन किया है। अलंकार की परिभाषा देते हुए काव्य के सभी शोभादायक धर्मों को अलंकार नाम दिया है - 'काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारन् प्रचक्षते'। इस परिभाषा के अनुरूप ही उन्होंने सभी शोभादायक तत्त्वों को अलंकार की परिधि में खींचना चाहा है। उन्होंने आठ रसों को रसवत्, स्नेह, प्रीति आदि प्रीतिकार भावों को प्रेयः तथा गर्वोक्ति आदि ऊर्जास्व अलंकार माना है। इतना ही नहीं, काव्यशोभा के धर्मगुण, रीति, सन्धि, सन्ध्यंग, व त्ति व त्यंग, लक्षण आदि तत्त्वों को भी अलंकारों में समेटने का प्रयास किया है। इस प्रकार दण्डी के विवेचन से स्पष्ट है कि काव्यशोभा के सम्पूर्ण तत्त्व अलंकार है भले ही वे किसी भी स्तर के क्यों न हो। इसीलिए आचार्य दण्डी ने समस्त सौन्दर्यदायक तत्त्वों को, भले ही वे नाट्य से सम्बद्ध हो, अलंकार नाम दिया है। जिस प्रकार आचार्य भामह ने सम्पूर्ण अलंकारों का आश्रय वक्रोक्ति को स्वीकारा है, उसी प्रकार दण्डी सम्पूर्ण अलंकारों का आश्रय अतिशयोक्ति को स्वीकारते हैं। उनका मत है कि शब्दार्थ-वैचित्र्य ही अलंकार है। यह वैचित्र्य अतिशयोक्ति के अधीन रहने के कारण, वह सभी अलंकारों में सामान्यतः रहती है, परन्तु उस वैचित्र्य का कथन-भंगिमा के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम से व्यवहार होता है।

आचार्य दण्डी का ध्यान भी काव्य-शरीर तथा उसके अलंकारों तक ही परिमित रहा है। भामह से कुछ हटकर उन्होंने इष्टार्थ से युक्त पदावली को काव्य माना है - 'शरीरं तावदिष्टार्यव्यवच्छिन्ना पदावली' अर्थात् इष्टार्थ से समन्वित पदावली ही काव्य का शरीर है। सम्पूर्ण सौन्दर्य-तत्त्व उस काव्य-शरीर के अलंकार है। काव्य-शरीर और उसके अलंकार से आगे आत्मतत्त्व की ओर दण्डी का ध्यान नहीं गया, न ही उन्होंने कहीं अलंकारों को काव्य की आत्मा कहा है। वे उन्हें सौन्दर्यकारक धर्म कहते हैं।

उद्भट - अलंकारवादी आचार्यों में भट्ट उद्भट का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने 'काव्यालंकार सारसंग्रह' के अतिरिक्त 'भामहविवरण' नाम से भामह के 'काव्यालंकार' पर टीका भी लिखी है। उद्भट का अलंकार विवेचन अत्यन्त मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण है। भामह का उन पर पर्याप्त प्रभाव है। भामह की जिन परिभाषाओं से वे सहमत हैं, उन्हें शब्दान्तर से कहना उन्हें उपयुक्त नहीं लगा। उन्होंने अतिशयोक्ति, विभावना, यथासंख्य, सहोक्ति, सन्देह और अनन्वय अलंकारों की परिभाषाएँ भामह से यथावत् ग्रहण की है, किन्तु इससे उनकी प्रतिभा पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगता। पुनरुक्तवदाभास, लाटानुप्रास, निदर्शना, काव्यलिंग और द ष्टान्त - ये पाँच ऐसे अलंकार है, जिनका विवेचन किसी भी पूर्ववर्ती आचार्य ने नहीं किया। रसवत्, प्रेयः अर्जस्वः समाहित तथा श्लिष्ट - इन पाँचों अलंकारों की भामह तथा दण्डी की परिभाषाएँ अत्यन्त अस्पष्ट हैं। उद्भट ने इनके स्पष्ट लक्षण प्रस्तुत किए है। भामह द्वारा अस्वीकृत, किन्तु दण्डी द्वारा मान्य लेश, सूक्ष्म तथा हेतु को इन्होंने भी अस्वीकृत कर दिया। भामह तथा दण्डी दोनों ने उत्प्रेक्षावयव, उपमा, रूपक तथा यमक इन तीनों अलंकारों को उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत माना था, किन्तु उद्भट ने इनको नहीं माना। इस प्रकार यद्यपि उन पर भामह का पर्याप्त प्रभाव है, तथापि उनकी नवनवोन्मेषालिनी प्रतिभा सर्वत्र स्फुरित होती रही है। उन्होंने भामह की अनेक परिभाषाएँ यथावत् ग्रहण करके भी उनका अन्धानुकरण नहीं किया है।

वामन - वामन रीति-सम्प्रदाय के प्रर्वतक होते हुए भी अलंकारवादी वर्ग में आते हैं। उनका 'काव्यालंकार सूत्रव त्रि काव्यशास्त्रीय परम्परा का सूत्र-शैली में निबद्ध एकमात्र ग्रन्थ है।

वामन गुण तथा अलंकार दोनों से सम्पन्न शब्दार्थ को ही काव्य मानने के पक्षधर हैं। उनके शब्दों

में 'काव्यशब्दों यंगुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थतयोः वर्तते' अर्थात् गुण और अलंकार से संस्कृत शब्दार्थ ही काव्य है। उनकी द ष्टि में अलंकारों की अपेक्षा गुण अधिक महत्त्वपूर्ण है। गुण काव्य में नित्य धर्म है। वे काव्य-शोभा को उत्पन्न करनेवाले धर्म हैं - 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।' अलंकार उस शोभा को बढ़ानेवाले हेतु हैं 'तदतिशयहेतवस्तवलंकाराः'। इस प्रकार गुण काव्य के नित्य धर्म है और अलंकार उसके सहायक मात्र। अलंकार काव्य को रोचक एवं ग्राह्य बनाते हैं, उनके अभाव में काव्य ग्राह्य नहीं होता। समस्त सौन्दर्यदायक तत्त्व ही अलंकार कहलाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि वामन के द ष्टिकोण में गुण काव्य के नित्य धर्म हैं और अलंकार अनित्य, किन्तु अलंकारों का महत्त्व उनसे कम कदापि नहीं है, क्योंकि वे ही काव्य को रोचक एवं ग्राह्य बनाते हैं।

रुद्रट - अलंकार-सम्प्रदाय में रुद्रट का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने 'काव्यालंकार' के सोलह में से ग्यारह अध्यायों में अलंकारों का विवेचन किया है। इनके महत्त्व के निम्न कारण है। प्रथम, इन्होंने पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित छत्तीस अलंकारों के साथ पच्चीस नूतन अलंकारों का आविष्कार किया और लगभग सभी अलंकार परवर्ती आचार्यों को मान्य हुए हैं। इतने अलंकारों के अविष्कार का श्रेय केवल रुद्रट को ही है, अन्य को नहीं। द्वितीय, इन्होंने वैज्ञानिक आधार पर अलंकारों के वर्गीकरण का प्रयास किया, जो उस युग में एक नितान्त मौलिक बात थी। इन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चारों को अलंकारों का विभाजक तत्त्व माना है और इसी आधार पर चार विभाग किए हैं। त तीय, इन्होंने रस और अलंकार दोनों को स्वतन्त्र घोषित किया और रसवत् अलंकार न मानकर रस निरूपण स्वतंत्र रूप से किया है।

आचार्य रुद्रट के पश्चात् संस्कृत-काव्यशास्त्र में ध्वनि का उदय होता है, जिसमें रस-ध्वनि को प्रतिष्ठापित किया गया। परवर्ती आचार्य या तो ध्वनिवादी हैं या ध्वनि-विरोधी। अभिनवगुप्त, मम्मट आदि प्रथम वर्ग में आते हैं तो कुन्तक, महिमभट्ट, मुकुलभट्ट द्वितीय वर्ग में। तात्पर्य यह है कि अलंकारों को काव्य का सर्वस्व माननेवाली परम्परा प्रायः यहीं विलीन हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि आगे अलंकार-विवेचन ही नहीं हुआ। अलंकार पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गए, उनका महत्त्व प्रतिपादित किया गया और यहाँ तक कहा गया कि जो व्यक्ति काव्य को अलंकाररहित मानता है, वह अग्नि को उष्णतारहित क्यों नहीं स्वीकारता-

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्ण मनलं कृती।।

लेकिन रस और ध्वनि के व्यापक महत्त्व के समक्ष उनकी बात मान्य नहीं हो सकी। परवर्ती आचार्यों में महत्त्वपूर्ण नाम है - राजानक, रुय्यक, जयदेव तथा अप्पय दीक्षित। रुय्यक और अप्पय दीक्षित दोनों आचार्यों ने केवल अलंकारों का विवेचन किया है। इनके ग्रन्थ हैं - रुय्यक का 'अलंकार-सर्वस्व' तथा दीक्षित का 'कुवलयानन्द'। ये दोनों ही अलंकार निरूपण के प्रौढ़ ग्रन्थ है। अलंकारों के सूक्ष्म एवं स्पष्ट ज्ञान के लिए इनका महत्त्व आज भी मान्य है। जयदेव का 'चन्द्रालोक' दस मयूखों में लिखा गया है। जिसमें सम्पूर्ण काव्यशास्त्र का विवेचन हुआ है, लेकिन उसका महत्त्व अलंकार-निरूपण के कारण ही है। 'चन्द्रालोक' में एक ही श्लोक में लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। अपनी इस शैली के कारण यह ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय हुआ है। शिशुओं को अलंकार रटाने के लिए आज भी इस ग्रन्थ को महत्त्व दिया जाता है।

अलंकारों का वर्गीकरण

सामान्यतः कथन-भंगिमाओं को ही अलंकार नाम से अभिहित किया जाता है। कथन-भंगिमाएँ अनन्त हैं, अतः अलंकारों की संख्या भी अन्तिमरूप से निश्चित नहीं की जा सकती। भेदों की इस

अनन्तता में भी कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी अन्य अलंकार से साम्य बना रहता है। उक्ति वैचित्र्य की विभिन्नता होने पर भी कुछ अलंकारों की मूल प्रव तियाँ ऐसी होती हैं, जिनके आधार पर उनके कुछ वर्ग बनाए जा सकते हैं: यथा उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा तीनों में उक्तिवैचित्र्य की द ष्टि से अनन्तर है किन्तु तीनों ही अलंकार साद श्यमूलक तत्त्वों पर आधारित है। अतः इन्हें एक वर्ग में रखा जा सकता है। अलंकारों का सर्वाधिक प्रसिद्ध वर्गीकरण शब्द परिव त्ति सहत्व के आधार पर हुआ है। इस आधार पर अलंकारों के शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार अलंकार के तीन भेद हैं-

शब्दालंकार - जब अलंकार किसी शब्द विशेष पर अवलम्बित होता है अर्थात् उस शब्द विशेष के स्थान पर अन्य समानार्थक रख देने पर अलंकार का अस्तित्त्व ही समाप्त हो जाए तो उसे शब्दालंकार कहते हैं। यह एक छन्द से स्पष्ट किया जा सकता है-

द्विज द्रोही न बचहिं मुनिराई।
जिमि पंकजवन हिम ऋतु आई।।

उपयुक्त चौपाई में श्लेष अलंकार है। 'द्विज' शब्द अनेकार्थक है। उसके प्रचलित अर्थ हैं - ब्राह्मण और चन्द्रमा। द्विज के ये दोनों अर्थ लेने पर चौपाई के दो अर्थ निकलते हैं। प्रथम, हे मुनिराज! ब्राह्मणों से द्वेष करनेवाला व्यक्ति कभी भी विनाश से नहीं बच सकता। जिस प्रकार कमल-वन वर्षा ऋतु आने पर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ब्राह्मणद्रोही शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि सूर्य से प्रेम तथा चन्द्रमा से द्वेष करनेवाला कमल-वन वापस ऋतु में स्वयं ही नष्ट हो जाता है। ये दोनों अर्थ निर्भर करते हैं अनेकार्थक शब्द 'द्विज' पर। यदि इस शब्द के स्थान पर अन्य ब्राह्मणवाची शब्द विप्र, पण्डित आदि रख दिया जाए तो चन्द्र विषयक अर्थ समाप्त हो जाएगा और इसके साथ ही श्लेष अलंकार का अस्तित्व भी। ये अलंकार शब्द-परिव त्ति को वहन करने में असमर्थ होते हैं, इसलिए इन्हें शब्दालंकार कहते हैं। अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा वक्रोक्ति सर्वमान्य शब्दालंकार है।

अर्थालंकार - जब अलंकार शब्द-विशेष पर अवलम्बित न होकर अर्थ पर आश्रित होता है, अर्थात् किसी भी शब्द के स्थान पर उसका पर्याय रख देने पर अलंकार का अस्तित्व समाप्त नहीं होता है तो उसे अर्थालंकार कहते हैं। यह अर्थ विशेष पर निर्भर करता है तथा अर्थ-चमत्कार उत्पन्न होता है। अर्थ विशेष पर आश्रित रहने के कारण ही इसमें शब्द-परिव त्ति को सहन करने की क्षमता होती है। एक उदाहरण प्रस्तुत है-

"मुख मयंक सम मंजु मनोहर।"

उद्ध त अर्धाली में उपमा अलंकार है। यहां यदि 'मयंक' के स्थान पर कोई अन्य समानार्थक शब्द रख दिया जाए तो उपमा अलंकार का स्वरूप न विकृत होता है और न अस्तित्व समाप्त।

उभयालंकार - उभयालंकार का शब्दिक अर्थ है - दो अलंकार। इसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों की अवस्थिति अनिवार्य नहीं है। उभयालंकार में कम-से-कम दो अलंकार रहते हैं, ये शब्दालंकार भी हो सकते हैं। अर्थालंकार भी तथा दोनों मिलकर भी। उभय शब्द संख्यावाचक है। इसमें कम-से-कम दो अलंकार होते हैं। उभयालंकार का एक उदाहरण प्रस्तुत है-

साधुचरित शुभ सरिस कपासू।
निरस बिसद गुनमय फल जासू।।
जो सहि दुःख परिछिद्र दुरावा।
बन्दनीय जेहि जउ जसु पावा।।

यहाँ श्लेष तथा उपमा का अंगागिभाव संकर है। जहाँ एक अलंकार दूसरे का अंग बनकर, उसका उपकारक हो, वहां अगांगिभाव संकर होता है। यहाँ निरस, बिसद, गुनमय, फल, छिद्र सभी शब्द श्लिष्ट है जिनका अर्थ साधु के प्रसंग में क्रमशः विरक्त, उज्ज्वल, गुणयुक्त, परिणाम, दोष तथा कपास के प्रसंग में क्रमशः विरक्तहृदय श्वेत, रेशे से युक्त, फल और छिद्र है। यहाँ श्लेष अलंकार उपमा का उपकार कर रहा है। इस प्रकार श्लेष उपमा का अंगागिभाव संकर है।

भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में अलंकारों का सर्वप्रथम वर्गीकरण करने का श्रेय आचार्य उद्भट को प्राप्त है। उन्होंने 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' में अलंकारों को छः वर्गों में विभाजित किया है। उद्भट के इस वर्गीकरण में वैज्ञानिकता का अभाव है। इन वर्गों में कोई भी भावगत एकता द ष्टिगत नहीं होती। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने उद्भट के वर्गीकरण का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है - "भामह के समय में अलंकार विषयक चार विभिन्न विचारधाराओं का प्रचलन था। भामह और उद्भट के बीच में दो अन्य वर्ग-मान्यताओं का उद्भव हुआ। इस प्रकार उद्भट का वर्गीकरण वैज्ञानिक द ष्टि से भले ही उपयोगी न हो, इसको तत्कालीन अलंकार-सम्प्रदायों का व्यापक चित्र अवश्य माना जा सकता है।"

आचार्य रुद्रट ने अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने अलंकारों के मूल तत्त्वों पर विचार करते हुए उन्हें चार वर्गों में विभाजित किया। ये वर्ग है - वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। वस्तु के स्वरूप का वचन वास्तव है। इस वर्ग में उन्होंने सहोक्ति, समुच्चय जाति यथासंख्य आदि 23 अलंकारों को स्थान दिया है। जहाँ किसी वस्तु के स्वरूप को अधिक स्पष्टता से व्यक्त करने के लिए अप्रस्तुत - योजना की जाती है, अर्थात् उसके समान किसी अन्य वस्तु का वर्णन किया जाता है, वहाँ दूसरा वर्ग औपम्य होता है। इस वर्ग में उन्होंने उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि 21 अलंकारों को स्थान दिया है। जहाँ अर्थ और धर्म के नियमों का विपर्यय हो, वहाँ त तीय वर्ग अतिशय होता है। इस वर्ग में उन्होंने असंगति, विभावना, विरोध आदि 12 अलंकारों का परिगणन किया है। जहाँ अनेकार्थक पदों के आधार पर एक ही वाक्य अनेक अर्थों का बोध करता है, वहाँ श्लेष वर्ग होता है। इस वर्ग में इन्होंने अविशेष, श्लेष, वक्र आदि 10 अलंकारों को स्थान दिया है। इस प्रकार रुद्रट का वर्गीकरण वैज्ञानिकता की दिशा में एक नया कदम है। यद्यपि उनका वर्गीकरण निर्दोष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन्होंने एक-एक अलंकार को दो-दो वर्गों में रख दिया है, जैसे उत्प्रेक्षा को औपम्य और अतिशय दोनों में, तथापि रुद्रट अलंकारों की सामान्य भावभूमि का अन्वेषण कर रहे थे। उनके औपम्य और अतिशय, वक्रता और चमत्कार इन तीनों तत्त्वों को ही सम्पूर्ण अलंकारों का मूल मानते हैं।

रुद्रट के उपरान्त आचार्य रुय्यक ने जो वर्गीकरण किया है, वह मूल तत्त्वों पर आधारित होने के कारण अधिक स्पष्ट एवं वैज्ञानिक है। इससे अलंकारों के मूल तत्त्वों का भी ज्ञान हो जाता है। रुय्यक ने अपने द्वारा प्रतिपादित अलंकारों को पाँच भागों में विभाजित किया है। इन भागों के अवान्तर भेद भी हैं। यह वर्गीकरण इस प्रकार है-

1. **साद श्यगर्भ** - इस वर्ग का मूलाधार साद श्य या साधर्म्य है। यह साधर्म्य तीन प्रकार से सम्भव है: (क) भेदाभेदतुल्य प्रधान, (ख) अभेद प्रधान, (ग) भेद प्रधान। इनके अतिरिक्त यह कहीं वाच्यरूप में रहता है और कहीं व्यंग्यरूप में । साधर्म्य की स्थिति के अनुसार ही रूय्यक ने इसके अवान्तर भेद भी प्रस्तुत किए हैं।

   ये इस प्रकार हैं-

   (क) भेदाभेदतुल्य प्रधान - इस वर्ग के अलंकारों का मूलाधार भेदाभेदतुल्य प्रधान साद श्य है। इसमें उपमेय तथा उपमा के साधर्म्य में भेद नहीं रहता, तुल्य साधर्म्य

की स्थिति रहती है। रुय्यक ने उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय तथा स्मरण चार अलंकारों को इस वर्ग में रखा है।

(ख) अभेद प्रधान - इस वर्ग के अलंकारों का मूलाधार अभेद प्रधान साद श्य है। इस वर्ग में उपमान उपमेय के साद श्य में अभेद का कथन किया जाता है। इस अवान्तर भेद के दो उपभेद हैः आरोपमूलक अभेद प्रधान और अध्यवसायमूलक अभेद प्रधान। आरोपमूलक में रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख तथा अपहुति छः आरोपमूलक आरोप किया जाता है, अतः आरोप की प्रधानता रहती है। अध्यवसाय मूलक वर्ग में उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति दो अलंकारों को रख गया है।